राजपूतो का उद्भव

9वीं 10वीं शताब्दी के बीच उत्तर भारत में एक नये शासक वर्ग का उदय हुआ, जो राजपूत कहलाये। मुख्यतः यह राजपूत राजवंश प्रतिहार साम्राज्य के अवशेषों से उभरे थे। 10वीं से 12वीं शताब्दी तक उत्तरी, पश्चिमी और मध्य भारत के एक बढ़े क्षेत्र पर इनका राजनैतिक वर्चस्व बना रहा। उनके आधीन एक नई राजनीति एवं सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ और आर्थिक जीवन में भी नये लक्षण प्रकट हुए।

राजपूतों की उत्पत्ति की अनेक व्याख्यायें हैं। विभिन्न राजपूत शासकों के अभिलेखों, प्रशस्तियों और दरबारी कवियों की रचनाओं में दावा किया गया है कि राजपूत शासक प्राचीन कालीन क्षत्रियों के वंशज थे। इस क्रम में दो तथ्यों पर विचार आवश्यक है। संस्कृत में राजपुत्र (राजपूत) शब्द का उपयोग अर्थशास्त्र, हर्षचरित् आदि में मिलता है लेकिन यह व्यक्ति के संदर्भ में है न कि जाति के। सामूहिक रूप से इस शब्द का उपयोग 8वीं शताब्दी में सिंध के इतिहास संबंधी रचना चचनामा में मिलता है। इसमें दाहिर की सेना में घुड़सवारों के विशेष दल की चर्चा मिलती है। जिन्हें अब्नाऐ मुलूक (राजाओं के पुत्र) कहा गया है। राजपूतों की उतपत्ति की व्याख्याऐं अनेक हैं। इन्हें हम मुख्य 6 अवधारणाओं में बांट सकते हैं।

1..विदेशी मूल की अवधारणा-

कई इतिहासकार (टोड, क्रूक) राजपूतों को विदेशी आक्रमणकारियों, विशेषकर शक् के वंशजों के रूप में देखते हैं। क्योंकि इनके संस्कार और कर्मकाण्ड एक-दूसरे से काफी मिलते हैं। गुप्त साम्राज्य के पतन के काल में

कई मध्य एशियाई जनजातियां उत्तरी और मध्य भारत में आकर बसीं। पंजाब, राजस्थान, और गांगेय घाटी के क्षेत्रों में इन्होनें धीरे-धीरे अपनी सत्ता सुदृढ़ कर ली। समय बीतने के साथ यह भारतीय समाज और धर्म का अंग बन गये और नये शासक वर्ग के रूप में उनकी पहचान बनी। यही राजपूत कहलाये।

2.अग्निकुल का सिद्धांत-

हर्षचरित में चर्चा मिलती है कि आबु पर्वत के निकट ऋषि वशिष्ठ ने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। इसके कारणों के संबंध में दो विवरण मिलते हैं। एक तो यह कि विश्वामित्र ने वशिष्ठ की कामधेनु गाय को ले लिया था। उसकी वापसी के लिए वशिष्ठ ने यज्ञ का अनुष्ठान किया और इस यज्ञ अग्नि से प्रकट हुए योध्दा ने कामधेनु की वापसी में वशिष्ठ की मदद की। वशिष्ठ ने प्रसन्न होकर उस योध्दा को परमार (प्रतिहार) की उपाधि दी। इसी योध्दा की संतान राजपूत कहलाये।

दूसरा विवरण यह है कि विश्वामित्र, अगस्त्य एवं अन्य ऋषियों द्वारा आयोजित यज्ञ –अनुष्ठान में राक्षस बाधा पहुंचा रहे थे। अतः उन्होने और अन्य ऋषियों ने देवताओं से मदद मांगी। इसी फलस्वरूप चार योध्दा अग्निकुण्ड से उत्पन्न हुए।इन चार योद्दाओं से अपना मूल जोड़ते हैं- प्रतिहार, चौहान(चाह्माण), परमार(पवार) और सोलंकी(चालुक्य)। अग्निकुण्ड का यह मिथक इस ओर भी संकेत करता है कि विदेशी या जनजातीय मूल के शासकों को हिंदू समाज में स्वीकृति और सम्मान पाने के लिए शुध्दीकरण की किसी प्रक्रिया(यज्ञ) से गुजरना पड़ा होगा। इसी शुध्दीकरण की चर्चा अग्निकुल के मिथक का आधार बनी।

3.जनजातीय मूल की अवधारणा-

गुप्तकाल में आट्विक राज्यों की समुद्रगुप्त द्वारा विजय की चर्चा से हम परिचित हैं। परवर्ती काल में भी उसी प्रकार जनजातीय सरदारों को या

आट्विक राजाओं को पराजित करने और अधीनस्थ शासक के रूप में बनाय़े रखने का क्रम चलता रहा। धीरे-धीरे इन अधीनस्थ शासकों एवं अधिकारियों ने अपनी सत्ता सुदृढ़ कर ली और स्वतंत्र शासक बन बैठे। इस क्रम में उन्हें भी शासक होने के कारण क्षत्रिय मान गया। चूंकि यह गैर- आर्य मूल के थे इसलिए इनके शुध्दिकरण और हिंदू समाज की उच्च जाति में अंगीकार करने के लिए विशेष धार्मिक अनुष्ठान किए गए होंगे। अग्निकुल का मिथक संभवतः जनजातीय शासकों के भी शुध्दिकरण और हिंदू समाज में विधिवत शासक वर्ग (क्षत्रिय जाति) के रूप में स्वीकृति पाने की प्रक्रिया से जुड़ा है। गोंड़, भील, मीना, आदि इसी प्रकार राजपूत शासकों की श्रृंखला में शामिल हुए।

4. क्षत्रिय की मूल अवधारणा-

इस संभावना को भी द्यान में रखना आवश्यक है कि कुछ राजपूत राजवंश प्राचीन कालीन क्षत्रिय शासकों के वंशज थे। इस विचार को गौरीशंकर ओढा ने प्रस्तुत किया है। उनका मानना है कि राजपूतों में प्रचलित रीति-रिवाज और सामाजिक तौर-तरीके प्राचीन कालीन क्षत्रियों के समान थे। उनकी शारीरिक संरचना को भी ओझा ने क्षत्रियों के अनुरूप बताया है। अनेक अभिलेखों और प्रशस्तियों में भी विभिन्न राजवंशों ने अपने आप को पौराणिक सूर्यवंशी और चंद्रवंशी शासकों के साथ संबंधित सिध्द किया है। इस विचार की पुष्टि में कठिनाई यह है कि प्राचीन सूर्यवंशी या चंद्रवंशी राजवंशों से संबंधो के दावे के लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं उपलब्ध होता है।

5.जातियों की गतिशीलता की अवधारणा-

पूर्व मद्य काल का आरंभिक चरण अस्थिरता और परिवर्तनों का काल था।

इस काल में जातिप्रथा में भी परिवर्तन आया। इसके अतिरिक्त पूर्वकाल में जिन ब्राह्मणों को भू-दान दिए गए थे, उनमें से कई एक ने स्वतंत्र शासकों के तौर पर सत्ता ग्रहण कर ली। अतः वर्णव्यवस्था के अनुरूप उन्हें भी क्षत्रिय की स्थिति प्राप्त हुई। ब्रह्म-क्षत्र का शब्द इसी प्रसंग में प्रयोग में आया। अतः हम पाते हैं कि 8वीं से 10वीं शताब्दी के बीच कहीं ब्राह्मण, तो कहीं गैर आर्य जनजातियों के प्रधान शासक वर्ग के रूप में सामने आये। जातीय स्थिति में यह परिवर्तन, उत्कर्ष या अपकर्ष एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार ही समाज में स्थापित हो सकता था ताकि वर्ण व्यवस्था की मौलिक संरचना परिवर्तित न हो जाये। इसीलिए शासक वर्ग में प्रवेश करने वाली इन जातियों को भी क्षत्रिय माना गया।

6.मिश्रित मूल की अवधारणा-

कई इतिहासकारों का मानना है कि राजपूत शासक वर्ग में सभी प्रकार की जातियां शामिल थीं।इनमे से कुछ विदेशी मूल की थीं, कुछ प्राचीन क्षत्रिय और ब्राह्मणों से संबंधित थीं। और कुछ का मूल जनजातियों से जुड़ा था। अपने भिन्न मूल के बावजूद इनकी एक सामूहिक पहचान शासक –वर्ग के रूप में 9वीं सताब्दी के उत्तरार्ध्द तक बन चुकी थी।अतः इन्हें राजपूत (राजाओं के पुत्र) की संज्ञा दी गई और जातिप्रथा में क्षत्रियों के समतुल्य स्थान दिया गया। इस शासक वर्ग की कुछ अपनी परंपरायें थीं और कुछ इनके दायित्व थे। सगोत्रीय संबंध इनमें बड़े घनिष्ठ थे। भू-अनुदानों में भी सगोत्रीय संबंधों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। इनमें योध्दा प्रवृत्ति काफी प्रबल थी। पूर्वकालीन शासकों की भांति इन्होने भी सांस्कृतिक क्रियाकलापों को प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार एक नवीन व्यवस्था इनके अधीन विकसित हुई। अतः 10वीं से 12वीं शताब्दी का काल उत्तरी भाग के इतिहास में एक नए युग राजपूत-युग का द्योतक था।

जारी.....